आत्मधर्मी आचार्य श्री की लोकधर्मी भूमिका

□ डॉ. संजीव भानावत

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. उत्कृष्ट संयम-साधना के आत्मधर्मी आचार्य थे, पर लोकधर्म और लोकमंगल के प्रति कभी उन्होंने उपेक्षा का भाव नहीं रखा। आत्म-चैतन्य जागृत कर लोक में व्याप्त अज्ञान अंधकार और तन्द्रा को मिटाने की वे सतत प्रेरणा देते रहे। चाहे साधना का पक्ष हो, चाहे साहित्य-सृजन की बात या इतिहास-लेखन का प्रसंग, आचार्य श्री लोकहित को सदैव महत्त्व देते थे, पर यह लोकहित आत्मानुशासित और आत्म-जागरण प्रेरित हो, इस ओर वे सदा सजग और सचेष्ट रहते।

आचार्य श्री का व्यक्तित्व बहुमुखी और कृतित्व बहुआयामी था। समाज में ज्ञान और क्रिया का सम्यक् विकास हो, इस दृष्टि से उन्होंने स्वाध्याय के साथ सामायिक और सामायिक के साथ स्वध्याय की प्रवृत्ति को जोड़ने पर बल दिया। स्वाध्याय में निरन्तर ताजगी आती रहे, मनन और चिन्तन चलता रहे, इस दृष्टि से उन्होंने साधना पर बल दिया, ज्ञान भंडार स्थापित किए, स्वयं साहित्य सृजन किया और नित नये अध्ययन-लेखन की प्रेरणा दी। आधुनिकता के साथ पारम्परिक शास्त्रीय ज्ञान जुड़े, यह उनकी समझ थी। लोक परम्परा को नकार कर पनपने वाली आधुनिकता के वे पक्षधर नहीं थे। उनका इतिहास-बोध अत्यधिक जागरूक था। धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्पराओं को समझकर नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों के निर्माण की दिशा में बढ़ने के लिए उनकी बराबर प्रेरणा रही। लोक से कटकर धर्म व्यक्ति को एकान्तवादी और अकेला बना दे, इसकी अपेक्षा अच्छा यह है कि धर्म व्यक्ति में मैत्री, सहयोग, सहिष्णुता और वात्सल्य भाव जगाये, यह उन्हें अभीष्ट था। आत्म तत्त्व को बुलन्द और जागृत रखकर ही वे समाज-धर्म को प्रतिष्ठित करना चाहते थे।

समाज के सभी अंग फले-फूलें, पुष्ट और बलिष्ट हों, स्नेह, सेवा और परस्पर सहयोग करते हुए व्यक्ति और समाज का संतुलित विकास हो, यह उन्हें इष्ट था। अपने प्रवचन और लेखन में आचार्य श्री की यही दृष्टि बनी रही।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्री प्राकृत-संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे। न्याय, व्याकरण, दर्शन व इतिहास में उनकी गहरी पैठ थी। वे शास्त्रीयता के संरक्षक माने जाते थे पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की यह विशेषता थी कि वे मन, वचन, कर्म में सहज-सरल थे, एकरूप थे। लोकधर्म, लोकसंस्कृति और लोकजीवन से वे कटकर नहीं चले। इस सबसे उनका गहरा जुड़ाव था। अपने शास्त्रीय ज्ञान को उन्होंने कभी अपने प्रवचनों में आरोपित नहीं किया। वे सहृदय कवि थे। उनकी कविताओं में आत्मानुभूति के साथ-साथ लोकजीवन और लोकधर्म की गहरी पकड़ थी। छंद शास्त्रीय न होकर लोकव्यवहार में व्यवहृत विभिन्न राग-रागिनियाँ हैं।

आचार्य श्री के प्रवचन आत्म-धर्म और आत्म-जागृति की गुरु गंभीर बात लिए हुए होते थे, पर होते थे सहज-सरल। तत्त्वज्ञान की बात वे लोकधर्म और लोकजीवन से जुड़कर / जोड़कर समझाते थे। प्रवचनों के बीच-बीच स्वतः साधना में पकी हुई सूक्तियाँ अवतरित होती चलती थीं। सूक्तियों का निर्माण वे शास्त्र के आधार पर न कर लोकानुभव के आधार पर करते थे। यहाँ हम उनकी सूक्तियों में निहित लोकधर्मी तत्त्वों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

दार्शनिक स्तर पर संतों ने यह अनुभव व्यक्त किया है कि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। जैसा हम भीतर सोचते हैं वैसा बाहर प्रकट होता है और जैसा बाहर है वैसा भीतर घटित होता है। इस संदर्भ में विचार करें तो सृष्टि में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि जो पंचतत्त्व हैं, वही पंचतत्त्व हमारे भीतर भी हैं। आचार्य श्री ने बाहर और भीतर के इन पंचतत्त्वों को समन्वित करते हुए उपमान के रूप में इन्हें प्रस्तुत करते हुए जीवन-आदर्शों और सांस्कृतिक मूल्यों को निरूपित किया है। विचार की नींव पर ही आचार का महल खड़ा होता है। इस संदर्भ में आचार्य श्री का कथन है—'विचार की नींव कच्ची होने पर आचार के भव्य प्रासाद को धराशायी होते देर नहीं लगती।'

विचार तभी परिपक्व बनते हैं जब उनमें साधना का बल हो। साधना के अभाव में जीवन का कोई महत्त्व नहीं। साधना रहित जीवन विषय-वासना में उलझ जाता है, अधर्म का रास्ता अपना लेता है, स्वार्थ केन्द्रित हो जाता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'उसको दूसरों का अभ्युदय कांटा सा कलेजे में चुभेगा, तरह-तरह की तदबीर लगाकर वह दूसरों का नुकसान करेगा और निष्प्रयोजन निकाचित कर्म बांधेगा।'

जल तत्त्व, करुणा, सरसता और सहृदयता का प्रतीक है। जिसका यह

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्व जागृत है, वही चेतनाशील है। आचार्य श्री के शब्दों में 'ऐसा व्यक्ति जो शांत चित्त से ज्ञान की गंगा में गहराई से गोता लगाता है, वह मूक ज्ञान से भी लाभ ले लेगा। ज्ञान के जलाशय में डुबकी लगाने से राग-द्वेष रूपी ताप मन्द पड़ता है।' आज ज्ञान के साथ हिंसा और क्रूरता जुड़ गयी है क्योंकि ज्ञान के साथ सत्संग का बल नहीं है। आचार्य श्री ने एक जगह कहा है—'सत्संग एक सरोवर के सदृश्य है जिसके निकट पहुँचने से ही शीतलता, स्फूर्ति तथा दिमाग में तरी आ जाती है।' भक्त के हृदय में बहता हुआ विशुद्ध भक्ति का निर्झर उसके कलुष को धो देता है और आत्मा निष्कलुष बन जाता है।' पर सत्संग और वियेक का अभाव व्यक्ति को ममता और आसक्ति में बांध देता है। वह अनावश्यक धन संग्रह और परिग्रह में उलझ जाता है। इस सत्य को आचार्य श्री यों व्यक्त करते हैं—'रजत, स्वर्ण, हीरे और जवाहरात का परिग्रह भार है। भार नौका को दरिया में डुबोता है और यह परिग्रह रूपी भार आत्मा को भव-सागर में डुबोता है।'

अग्नि तत्त्व ज्ञान और तप का प्रतीक है पर जब यह तत्त्व क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों में मिल जाता है तब प्रकाश न देकर संताप देता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'जैसे गर्म भट्टी पर चढ़ा हुआ जल बिना हिलाए ही अशांत रहता है, उसी प्रकार मनुष्य भी जब तक कषाय की भट्टी पर चढ़ा रहेगा तब तक अशांत और उद्विग्न बना रहेगा।' समता भाव लाकर ही उसे शांत किया जा सकता है। आचार्य श्री के शब्दों में 'भट्टी पर चढ़ाए उबलते पानी को भट्टी से अलग हटा देने से ही उसमें शीतलता आती है। इसी प्रकार नानाविध मानसिक संताप से संतप्त मानव सामायिक-साधना करके ही शांति लाभ कर सकता है।'

शरीर और आत्मा भिन्न हैं, इस तथ्य को समझाते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'चकमक से अलग नहीं दिखने वाली आग भी जैसे चकमक पत्थर से भिन्न है, वैसे आत्मा शरीर से भिन्न नहीं दिखने पर भी वस्तुतः भिन्न है।' यह ज्ञान चेतना का विकास होने पर ही संभव है। आचार्य श्री के शब्दों में—'हृदय में व्याप्त अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए चेतना की तूली जलानी होगी।' ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर पुरातन कर्म दग्ध हो जाते हैं। इसी दृष्टि से तपस्या को अग्नि कहा गया है। आचार्य श्री के शब्दों में—'जैसे आग की चिनगारी मनों भर भूसे को जलाने के लिए काफी है, वैसे ही तपस्या की चिनगारी कर्मों को काटने के लिए काफी है।'

आचार्य श्री ने कृषि एवं पशु-पक्षी जगत् से भी कई उपमान लिए हैं। काल अर्थात् मृत्यु पर किसी का वश नहीं चलता। काल को शेर की उपमा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

देते हुए आचार्य श्री कहते हैं 'ममता से मैं-मैं करने वाले को काल रूपी शेर एक दिन दबोच लेगा और इन सारे मैं-मैं के खेल को एक झटके में ही खत्म कर देगा।' एक अन्य स्थल पर उन्होंने काल को सांप एवं मानव-जीवन को मेंढ़क की उपमा दी है। सांप और उसकी केंचुली के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए उन्होंने राग-त्याग की बात कही है—'सांप की तरह त्यागी हुई केंचुली रूपी वस्तु की ओर मुड़ कर नहीं देखोगे तो जाना जाएगा कि आपने राग के त्याग के मर्म को समझा है।' मन को तुरंग और ज्ञान को लगाम की उपमा देते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'ज्ञान की बागडोर यदि हाथ लग जाए तो चंचल-मन-तुरंग को वश में रखा जा सकता है।' एक अन्य स्थल पर धर्म को रथ की उपमा देते हुए कहा है—'धर्म-रथ के दो घोड़े हैं—तप और संयम।'

स्वधर्म वत्सल भाव के सम्बन्ध को समझाते हुए गाय और बछड़े की सटीक उपमा दी गयी है—'हजारों बछड़ों के बीच एक गाय को छोड़ दीजिए। गाय वात्सल्य भाव के कारण अपने ही बछड़े के पास पहुँचेगी, उसी तरह लाखों-करोड़ों आदमियों में भी साधर्मी भाई को न भूलें।'

कृषि हमारी संस्कृति का मूल आधार है। कृषि में जो नियम लागू होते हैं वही संस्कृति में भी। हृदय को खेत का रूपक देते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'हृदय रूप खेत में सत्य, अहिंसा और प्रभु भक्ति का वृक्ष लगाइये जिससे हृदय लहलहायेगा और मन निःशंक, निश्चिन्त और शान्त रहेगा।' आहार-विवेक की चर्चा करते हुए आचार्य श्री फरमाते हैं—'जिस तरह भंवरा एक-एक फूल से थोड़ा-थोड़ा रस लेता है और उसे पीड़ा नहीं होने देता है, उसी तरह से साधकों को भी आहार लेना चाहिए।' चरित्रवान मानव की अपनी विशिष्ट अवस्थिति और पहचान है। उसे नमक की उपमा देते हुए आचार्य श्री कहते हैं—'चरित्रवान मानव नमक है, जो सारे संसार की सब्जी का जायका बदल देता है।' चक्की और कील के माध्यम से संसार और धर्म के सम्बन्ध को समझाते हुए आचार्य श्री फरमाते हैं—'संसार की चक्की में धर्म की कील है। यदि इस कील की शरण में आ जाओगे तो जन्म-मरण के पाटों से चकनाचूर होने से बच जाओगे।'

श्रीमन्तों को प्रेरणा देते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि उन्हें 'समाज की आँखों में काजल बनकर रहना चाहिए जो कि खटके नहीं, न कि कंकर बनकर जो खटकता हो।'

आचार्य श्री की सूक्तियाँ बड़ी सटीक और प्रेरक हैं। यथा—

१. आचरण भक्ति का सक्रिय रूप है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

२. कामना पर विजय ही दुःख पर विजय है ।

३. शांति और क्षमा ये दोनों चारित्र के चरण हैं ।

४. पोथी में ज्ञान है लेकिन आचरण में नहीं है तो वह ज्ञान हमारा सम्बल नहीं बन पाता ।

५. जिसके मन में पर्दा है वहाँ सच्चा प्रेम नहीं है ।

६. शास्त्र ही मनुष्य का वास्तविक नयन है ।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आचार्य श्री के प्रवचनों में कहीं आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार की दिव्य आनन्दानुभूति का उल्लास है तो कहीं समाज की विसंगतियों और विकृतियों पर किए जाने वाले प्रहार की ललकार है । उनमें जीवन और समाज को मोड़ देने की प्रबल प्रेरणा और अदम्य शक्ति है ।

—सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता विभाग, राजस्थान वि. वि., जयपुर

सन्तन के दरबार में

भाई मत खेले तू माया रंग गुलाल सूं ।। टेर ।।

भाई हो रही होली, सन्त बसन्त की बहार में ।
महाव्रत-पंचरंग फूल महक ले, भवि मधुकर गुंजार में ।। भाई. ।।

ज्ञान-गुलाल-लाल रंग उछरे, अनुभव अमलाकांतार में ।
क्रिया-केसर रंग भर पिचकारी, खेले सुमति प्रिया संग प्यार में ।। भाई. ।।

जप तप-डफ-मृदंग-चंग बाजे, जिन-गुण गावे राग धमार में ।
'सुजाण' या विधि-होली मची है, सन्तन के दरबार में ।। भाई. ।।

—मुनि श्री सुजानमलजी म. सा.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org